

एक कायर गणतंत्र



पिछले दिनों फिल्म “पद्मावती” को लेकर चले विवाद ने एक बार फिर से हमारी पहचान की भंगुरता को रेखांकित कर दिया है। इसने उस असंतोष की पर्तों को उघाड़ दिया है, जो हमारी भावना का गठन करता है; हमारे हमारे समाज को पंगु बनाने वाले तत्वों को एक बार फिर से सुदृढ़ कर दिया है; हमारे कानून पर होने वाले बौद्धिक भ्रमों की लचरता को उद्घाटित कर दिया है एवं हमारे राजनेताओं में संवैधानिक दृढ़ता की कमी का भी पर्दाफाश कर दिया है। यही कारण है कि भारत आज भी स्वतंत्रता जैसे अधिकार के लिए अनुपयुक्त नजर आता है।

जहाँ तक कानून और स्वतंत्रता का प्रश्न है, इतिहास पर बहस करना अप्रासंगिक-सा लगता है। कुछ इतिहासकारों ने पद्मिनी को ऐतिहासिक सत्य न मानते हुए इसे मात्र जायसी की कल्पना बताकर देश में चलने वाली बहस का और भी घालमेल कर दिया है। उन्होंने इसे एक सांस्कृतिक स्मृति की तरह मान लेना ही स्वीकार किया है। उनका यह तर्क एक फंदे से अधिक कुछ नहीं जान पड़ता। इसके तीन कारण हैं।

- हम ऐसे समय में रह रहे हैं, जब राज्य सरकारें इतिहास को विचित्र रूप में प्रस्तुत कर रही हैं। ऐसे में इतिहास के थोड़े से भी विश्वास योग्य साक्ष्यों को संजोना हमारी जरूरत है। इन सबके बावजूद हमें यह मानना ही होगा कि भारत में ऐतिहासिक चेतना और ऐतिहासिक साक्ष्यों का जो स्वरूप है, वह इतिहासकारों की पकड़ से काफी अधिक उलझा हुआ है। यह सच है कि यहाँ कभी-कभी ऐतिहासिक स्मृति के रूप में ही साक्ष्यों को संरक्षित किया जाता है। इसके साथ-साथ हम अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को भी साथ लेकर चलते हैं, जिससे ऐतिहासिक स्मृति के इन साक्ष्यों पर वाद-विवाद कर सकें।

- दूसरा फंदा इतिहास बनाम सांस्कृतिक-स्मृति का दिखाई देता है। अगर इन दोनों में से किसी एक का चयन करने को मजबूर कर दिया जाए, तो स्पष्ट रूप से यही कहा जा सकता है कि इतिहास को विवादों में इतना मत घसीटो। सांस्कृतिक स्मृति ही ठीक है। इस पर भी प्रश्न उठाया जा सकता है कि इतिहास में गरिमा की ऐसी कौन-सी बात है कि उसे विवादों में नहीं लाया जा सकता? चाहे आप पद्मिनी का सम्मान करें या तिरस्कार, यह तो आपके स्वतंत्रता के अधिकार का परिचायक है।
- कुछ इतिहासकार अपने साम्प्रदायिक समकक्षों की तरह ही अतीत से नागरिकता की समकालीन परियोजना को जोड़ने के फंदे में भी फंसे दिखते हैं। दोनों ही वर्ग एक पक्ष पर समान दिखाई देते हैं कि भारत के लोगों को यह अधिकार है कि मध्यकालीन भारत के बारे में कुछ कथा या तथ्यों को चालू रखे जाना। एक वर्ग इसे भारतीयों की गहरी आत्मसात् करने की क्षमता का परिचायक बनाना चाहता है, तो दूसरा वर्ग इसे साम्प्रदायिक विवादों एवं अत्याचारों की ऐसी फिल्म के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, जिसमें पद्मिनी मात्र एक कठपुतली है। इस माध्यम से दोनों ही पक्ष सांस्कृतिक स्मृति की गोटी को अपनी राजनीति की चैपड़ में फिट करना चाहते हैं। दरअसल, जो भी राष्ट्र अपने भविष्य को मध्यकालीन इतिहास पर व्यर्थ की बहसों में उलझा कर रखता है, उसका विकास असंभव है। हमने इतिहास और नागरिकता को परस्पर इतना गूँथ दिया है कि उनका स्वरूप ही बिगड़ गया है।

जहाँ करोड़ों जनता होगी, वहाँ कुछ न कुछ कूड़ा तो ऐसा उत्पन्न होगा ही, जो हमें अच्छा नहीं लगेगा। इनमें से कुछ तो जानबूझकर दूसरों को नाराज करने या झटका देने का काम करेंगे। उनके इस कृत्य का प्रभाव हमारी प्रतिक्रिया से तय होता है। अधिकांश नेता हमारी भावनाओं के साथ खिलवाड़ करते हैं। इस फिल्म के माध्यम से हमारी भावनाओं को भड़काकर भी वे यही कर रहे हैं। इस प्रकार वे हमें नियंत्रित करना चाहते हैं। लोगों की स्वतंत्रता को हड़पने वाला सबसे पहले उनकी भावनाओं को ग्रसता है।

सबसे अधिक दुख की बात यह है कि यह पूरा प्रकरण मुख्यमंत्रियों का ऐसा खेदजनक तमाशा प्रस्तुत करता है, जिसमें भयावह कायरता, गंवारपने में उनकी सहभागिता एवं सांवैधानिक कर्तव्यों के प्रति उनकी उपेक्षा को प्रदर्शित करता है।

हमारी समुदायगत पहचान की कोमलता, उनमें व्याप्त आक्रोश की पर्तें आज असहिष्णुता की राजनीति को जन्म दे रही हैं। किसी की सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाना, किसी अदाकारा की नाक काटने पर इनाम रखना ही आज साहस और वीरता का परिचायक बन गया है। भंसाली की आलोचना करने से पहले उन समुदायों और मुख्य मंत्रियों को अपना मूल्यांकन करना चाहिए, जो अपने साथियों को डरा-धमकाकर संवैधानिक मूल्यों की धज्जियां उड़ा रहे हैं। भारत के लिए ऐसा दमघोंटू कायरता दुर्भाग्यपूर्ण है।

‘द इंडियन एक्सप्रेस’ में प्रकाशित प्रताप भानू मेहता के लेख पर आधारित।